अगस्त 2026, मूल्य : 40

परिंदे

सृजन की उड़ान

संपादक
अपूर्व

महाप्रबंधक
अमित कुमार

शब्द-संयोजन
उषा ठाकुर

रेखाचित्र : संदीप राशिनकर, कृष्ण कुमार, रोहित प्रसाद पथिक

पाखी

वर्ष : 18, अंक 11, अगस्त, 2026

मूल्य :

प्रति	:	रु. 40.00
वार्षिक, रजिस्टर्ड डाक सहित	:	रु. 1000.00
आजीवन, रजिस्टर्ड डाक सहित	:	रु. 10000.00

भुगतान इंडिपेंडेंट मीडिया इनीशिएटिव सोसाइटी के नाम से किया जाए।
भुगतान ऑनलाइन या सीधे बैंक में भी जमा कर सकते हैं।
बैंक : UNION BANK
खाता संख्या : 520101255568785
IFSC : UBIN **0905011**
बैंक शाखा : जी-28, सेक्टर-18, नोएडा-201301
उत्तर प्रदेश

प्रकाशक
इंडिपेंडेंट मीडिया इनीशिएटिव सोसाइटी
बी-107, सेक्टर-63, नोएडा-201309
गौतमबुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश
दूरभाष : 0120-4330755
editor@pakhi.in
pakhimagazine@gmail.com
www.facebook.com/pakhimagazine
Web portal : www.pakhi.in

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक और प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं के विचार से प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं। समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय के अंतर्गत विचारणीय। स्वामित्व इंडिपेंडेंट मीडिया इनिशिएटिव सोसाइटी के लिए प्रकाशक, मुद्रक नारायण सिंह राणा द्वारा चार दिशाएं प्रिंटर्स प्रा.लि. जी-39, नोएडा से मुद्रित एवं बी-107, सेक्टर 63, नोएडा से प्रकाशित।

*इस अंक के आवरण पर प्रकाशित चित्र जर्मन अभिव्यक्तिवादी कलाकार कैथ कोल्विट्ज (*Kathe Kollwitz*, 1867) 1945 की प्रसिद्ध कृति 'द सर्वाइवर्स' (Die Uberlebenden/The Survivors) है। कोल्विट्ज बीसवीं सदी की उन विरले कलाकारों में थीं जिन्होंने अपनी कला का केंद्र सत्ता या विजेताओं को नहीं, बल्कि युद्ध, हिंसा, दमन और सामाजिक अन्याय के बीच जीवित रहने के लिए संघर्ष करते साधारण मनुष्यों को बनाया। 'द सर्वाइवर्स' प्रथम विश्वयुद्ध और उसके बाद यूरोप में फैली मानवीय त्रासदी की पृष्ठभूमि में रची गई कृति है। इसमें भय, असुरक्षा और भविष्य की अनिश्चितता से घिरे बच्चों और आम लोगों के चेहरे दिखाई देते हैं। यह चित्र किसी एक देश, काल या सत्ता की कथा नहीं कहता, बल्कि हर उस समाज का रूपक बन जाता है जहां लोकतांत्रिक मूल्यों, मानवीय गरिमा और नागरिक स्वतंत्रताओं पर संकट मंडराता है। इसी सार्वकालिक मानवीय संवेदना के कारण इस अंक के आवरण के लिए इस कृति का चयन किया गया है। यह चित्र पाठकों को हमारे समय के उन प्रश्नों पर विचार करने के लिए आमंत्रित करता है जो लोकतंत्र, असहमति, न्याय और मनुष्य की गरिमा से जुड़े हैं।*

अनुक्रमणिका

संपादकीय/अपूर्व

भाषा की दरिद्रता का समय 4

चिट्ठी आई है 7

कहानियां/लघु कथाएं

बनवारी बाबू का मकान	:	विद्याभूषण	8
चाभी	:	मुकेश कुमार	14
मशीनें सोचने लगीं	:	विशाल मिश्र	16
आखिरी चिट्ठी *(लघु कथा)*	:	कैलाश केशरी	19
गुड़गुड़ी	:	लोकमित्र गौतम	20
मोची काका	:	भरत चंद्र शर्मा	27
नाम *(लघु कथा)*	:	मार्टिन जॉन	30
सपनों का देश	:	राजीव थिंद	31

कविताएं

अनिता रश्मि की कविताएं 38

ललन चतुर्वेदी की कविताएं 40

अखिलेश श्रीवास्तव चमन की कविताएं 42

प्रवीण 'बनजारा' की कविता 44

क्रांति की कविताएं 45

मूल्यांकन

स्त्री होने को अभिव्यक्ति देती कविताएं : दिविक रमेश 46

तीन पीढ़ियां : साठ कविताएं : हीरालाल नागर 49

हिंदी आलोचना में नैरेटोलॉजी की दस्तक : मृत्युंजय श्रीवास्तव 52

प्रश्नों की आंच में सभ्यता : शुभम् मोंगा 56

आलेख

वर्तमान दुनिया में लोकतंत्र पर बढ़ता खतरा और पूंजीवादी तानाशाही : पूरन जोशी 62

स्थाई स्तंभ

कल्पित कथन

केदारजी का बनारस और एक विवादास्पद कहानी का किस्सा : कृष्ण कल्पित 66

सत्याग्रह

हमारे बाद हमारी किताबें : प्रियदर्शन 69

पाखी संवाद–जहां शब्द डरते नहीं/प्रतिक्रियाएं

जिसने सरहदों से पहले इंसान को लिखा 71
कम लिखो, मगर अच्छा लिखो 74
शब्दों में बसता हुआ मनुष्य 76
जिसने प्रेम को भी कविता बनाया और प्रतिरोध को भी 79
जब शब्द तीन दिशाओं से मनुष्य के पक्ष में खड़े हुए 82
जब शब्दों ने मिट्टी और मनुष्य का दुख लिखा 84
जिसने कविता को लोक और विश्व के बीच सेतु बनाया 86
जिसने भारत की आत्मा को शब्द दिए 88

भाषा की दरिद्रता का समय

साहित्य की दुनिया में मतभेद कोई नई बात नहीं है। वैसे भी यदि साहित्य में असहमति न हो तो शायद उसका विकास भी रुक जाए। हर नई रचना अपने समय के स्थापित विचारों को चुनौती देती है और हर गंभीर आलोचना किसी स्थापित सत्य पर प्रश्नचिह्न लगाती है। इसलिए साहित्य में विवाद, बहस और प्रतिवाद स्वाभाविक हैं। अस्वाभाविक तब होता है जब बहस का स्थान भाषा की कटुता ले लेती है, जब तर्क की जगह तिरस्कार आ जाए और जब विचारों का उत्तर विचारों से नहीं, बल्कि व्यक्तियों पर निजी प्रहार के जरिए दिया जाने लगे।

पिछले कुछ वर्षों में हिंदी साहित्य का सार्वजनिक संसार तेजी से बदला है। कभी साहित्यिक पत्रिकाएं और गोष्ठियां विचारों के आदान-प्रदान का मंच होती थीं। मतभेद होते थे, लेकिन उनके पीछे एक बौद्धिक अनुशासन दिखाई देता था। आज बहस का बड़ा हिस्सा सोशल मीडिया पर स्थानांतरित हो गया है। वहां गति अधिक है, धैर्य कम है और प्रतिक्रिया तत्काल है, विचार अपेक्षाकृत कम। इस परिवर्तन ने साहित्यिक संवाद की भाषा को भी प्रभावित किया है। धीरे-धीरे ऐसी शब्दावली सामान्य होती जा रही है जिसकी कल्पना कभी साहित्यिक संसार में नहीं की जाती थी।

इसी संदर्भ में 'पाखी' के जुलाई अंक में प्रकाशित कृष्ण कल्पित के नियमित स्तंभ 'कल्पित कथन' में राजकमल चौधरी पर लिखा गया और उस पर आई एक टिप्पणी ने मेरा ध्यान आकर्षित किया है। कृष्ण कल्पित ने राजकमल चौधरी की रचनावली के संपादन पर गंभीर प्रश्न उठाए हैं। उनका कहना है कि जिन कहानियों को वे राजकमल चौधरी की श्रेष्ठ रचनाओं में गिनते हैं, जैसे 'बस स्टॉप', 'सामुद्रिक', 'बारह आंखों का सूरज' और 'खरगोश का बच्चा', वे रचनावली में नहीं हैं। उनका निष्कर्ष है कि ऐसी स्थिति में उसे पूर्ण रचनावली कहना उचित नहीं है। उन्होंने संपादक प्रो. देवशंकर नवीन की संपादकीय दृष्टि पर भी सवाल उठाए हैं। बकौल कल्पित 'रचनावली के संपादक प्रो. देवशंकर नवीन महत्वाकांक्षी दिखते हैं और हड़बड़ी में लगते हैं। अभी तो वे मुक्त विश्वविद्यालय से जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय पहुंचे हैं, पता नहीं और कहां पहुंचना चाहते हैं?'

यहां तक सब कुछ साहित्यिक आलोचना की परंपरा के भीतर आता है। किसी संपादन पर प्रश्न उठाना आलोचक का अधिकार है। यदि किसी रचनावली में तथ्यात्मक या संपादकीय त्रुटियां हैं तो उनकी ओर संकेत किया जाना चाहिए। उसी प्रकार संपादक को भी पूरा अधिकार है कि वह उन आरोपों का तथ्यपरक उत्तर दे। यही स्वस्थ साहित्यिक संवाद है, लेकिन प्रश्न तब पैदा होता है, जब आलोचना का उत्तर आलोचना न रहकर भाषा के स्तर पर उतर आता है।

प्रो. देवशंकर नवीन द्वारा मुझे भेजी गई ई-मेल में कृष्ण कल्पित के लेखन के लिए 'भौंकना' जैसा शब्द प्रयुक्त किया गया है। उन्होंने लिखा है 'अभी-अभी एक लेखक मित्र ने सूचना दी है कि पाखी के ताजा अंक में श्री कृष्ण कल्पित ने मेरे विरुद्ध कुछ अभद्र और अवांछित लेख लिखा है। सोशल मीडिया पर वे मेरे विरुद्ध लिखते रहते हैं। उनके लिखने को मैं भौंकना ही मानता हूं। पर इस बार तो उन्होंने प्रिंट मीडिया में लिखा है। जवाब तो देना होगा।' भौंकना केवल एक शब्द नहीं है। यह उस मन:स्थिति का संकेत भी है जिसमें प्रतिपक्ष के तर्क को गंभीरता से लेने के बजाय उसे उपेक्षा और अवमानना के साथ खारिज कर दिया जाता है। संभव है कि यह क्षणिक आक्रोश में लिखा गया हो, लेकिन जब ऐसा संवाद सार्वजनिक हो जाता है तो वह केवल दो व्यक्तियों के बीच की बातचीत नहीं रह जाता। वह साहित्यिक संस्कृति का दस्तावेज बन जाता है।

यहां प्रश्न यह नहीं है कि कृष्ण कल्पित सही हैं या देवशंकर नवीन। यह भी प्रश्न नहीं है कि रचनावली सचमुच अधूरी है या नहीं। इन प्रश्नों का उत्तर शोध, दस्तावेज और तथ्यों से दिया जा सकता है। असली प्रश्न यह है कि क्या हिंदी साहित्य में असहमति व्यक्त करने की भाषा लगातार असभ्य होती जा रही है? क्या हम विचारों के स्तर पर लड़ने के बजाय शब्दों के स्तर पर एक-दूसरे को नीचा दिखाने लगे हैं?

यह प्रश्न इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि यह विवाद दो सामान्य लेखकों के बीच नहीं है। एक ओर कृष्ण कल्पित जैसे वरिष्ठ लेखक हैं, दूसरी ओर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक और प्रतिष्ठित साहित्यकार प्रो. देवशंकर नवीन। दोनों हिंदी साहित्य की दुनिया में पहचाने हुए नाम हैं। उनके शब्दों का प्रभाव केवल उनके व्यक्तिगत संबंधों तक सीमित नहीं रहता। वे एक पूरी पीढ़ी को यह भी सिखाते हैं कि असहमति कैसे व्यक्त की जाए।

यहीं साहित्य और अकादमिक संसार की जिम्मेदारी शुरू होती है। विश्वविद्यालय केवल ज्ञान के केंद्र नहीं होते, बल्कि वे भाषा और विवेक के भी केंद्र होते हैं। वहां पढ़ाने वाला